कोरोना के इर्द-गिर्द कुछ असमाप्य गद्य

मदन सोनी

भारत में लॉकडाउन की विडम्बना पर **रोहन मोरे** की एक चित्र-टिप्पणी.

कोरोना महामारी की तुलना अगर बीसवीं सदी के दूसरे दशक में फैली महामारी स्पेनिश फ़्लू से की जाए तो कुछ विचारणीय बिंदु उभरते हैं। जैसा कि गूगल बताता है, स्पेनिश फ़्लू ने दुनिया भर में लगभग 50 करोड़ लोगों (तत्कालीन दुनिया की एक-चौथाई आबादी) को प्रभावित किया था और डेढ़ करोड़ से पाँच करोड़ के बीच, या उससे भी बड़ी संख्या में लोगों की जान ले ली थी। लेकिन उस दौर में चिकित्सा-विज्ञान तथा अन्य प्रतिरोधक वैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक संसाधन आज के मुक़ाबले अत्यंत अल्पविकसित और कम थे। इस अर्थ में मौजूदा संकट इसलिए और भी भयावह है कि यह विज्ञान में हुई असाधारण प्रगति को और इस प्रगति से सर्वाधिक लाभान्वित राष्ट्रों तक को गम्भीर चुनौती दे रहा है (मसलन, युरोप तो इससे गम्भीर रूप से प्रभावित है ही, अमेरिका आज भी संक्रमितों और मृतकों के सर्वाधिक आँकड़ों के साथ बुरी तरह से त्रस्त है)। अगर आज दुनिया के वैज्ञानिक और आर्थिक रूप से अत्यंत विकसित राज्य इस संकट के सामने हतप्रभ हैं, तो इसलिए कि इस विज्ञान ने उन्हें घोषित-अघोषित रूप से आश्वस्त कर रखा था कि महामारी का युग हमेशा के लिए बीत चुका है, और सम्भवत: इसीलिए उनके अत्यंत कुशल और चौकस आपदा-प्रबंधन में इस तरह के संकट के लिए कोई तैयारी नहीं थी (यह अकारण नहीं कि इस

समय दुनिया के सर्वाधिक लब्धप्रतिष्ठ और असाधारण रूप से बहुपठित अध्येता-इतिहासकार, इज़रायल-निवासी युवाल नोआ हरारी, जब दो-तीन वर्ष पहले ही *होमो डेयस* नामक अपनी पुस्तक में मानव-जाति के भविष्य का इतिहास लिखने बैठे थे, तो उन्होंने इसकी शुरुआत इस आशावादी स्वर के साथ की थी : '... तीसरी सहस्राब्दी की भोर में मनुष्यता एक विस्मयकारी बोध के साथ जाग रही है। ज़्यादातर लोग इसके बारे में शायद ही कभी सोचते हैं, लेकिन पिछले कुछ दशकों में हम अकाल, महामारी और युद्ध पर लगाम कसने में कामयाब रहे हैं। निश्चय ही ये समस्याएँ पूरी तरह से हल नहीं हुई हैं, लेकिन उनको प्रकृति की अबूझ और बेक़ाबू शक्तियों से ऐसी चुनौतियों में तो बदल ही लिया गया है जिनका सामना किया जा सकता है। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि अकाल, महामारी और युद्ध को रोकने के लिए हमें क्या करना चाहिए और हम आम तौर से यह करने में कामयाब होते हैं।'

दरअसल यह आश्वासन सिर्फ़ महामारी तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके दायरे में प्रकृति-मात्र पर अंतिम रूप से विजय प्राप्त कर चुके होने का हमारा आत्मविश्वास भी झलकता प्रतीत होता है— जैसा कि हरारी के उक्त कथन से भी ध्वनित है। नतीजतन, दुनिया की अधिकांश वैज्ञानिक तैयारियाँ सम्भावित रूप से इंसानों द्वारा पैदा किये जाने वाले संकटों या इंसानी निर्भरता से निपटने पर, इंसान को नियंत्रित करने पर केंद्रित हैं। दुनिया भर में हथियारों के ज़ख़ीरे और आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस तथा ऑटोमेशन के उत्पादों पर सबसे ज़्यादा होने वाले ख़र्च इसके प्रमाण हैं। तैयारियाँ प्राकृतिक आपदाओं से निपटने को लेकर भी जारी हैं, लेकिन ये तैयारियाँ ज़्यादातर इन आपदाओं की प्रकृति को प्रत्याशित या अनुमेय मान कर ही हैं, अप्रत्याशित, अननुमेय मान कर नहीं। मानो मनुष्य का ज्ञान प्रकृति के अतीत का ही नहीं, उसके भविष्य का, उसकी सम्भाव्यताओं का भी दोहन कर चुका हो।

लेकिन अगर वाक़ई हमारा ऐसा विश्वास है, तो वर्तमान संकट उसका बहुत बड़ा प्रतिवाद है। प्रकृति अननुमेय और अप्रत्याशित से भरी हुई है। वह अभी भी अबूझ और बेक़ाबू शक्तियों से परिपूर्ण है। और उसकी चुनौतियों से मुक्ति पाने के लिए हमें निश्चय ही किसी देवता या संत से प्रार्थना करने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन, कम-से-कम महामारी के बारे में तो यह बात साबित हो चुकी लगती है। उसे रोकने के लिए हमें क्या करना चाहिए, यह हम उतनी अच्छी तरह से नहीं जानते जैसाकि हमारा विश्वास था। हमने कम-से-कम अब तक जो किया है, वह हमारे जानने की सीमा को बुरी तरह से रेखांकित करता है : सम्पूर्ण लॉकडाउन (जो अभी हाल ही तक लगभग सवा दो महीने जारी रहा, और जो आंशिक तौर पर अभी भी जारी है, और जिसके फिर-से लागू होने की सम्भावना लगातार बनी रहती है), सोशल डिस्टेंसिंग और मास्क (नक़ाब) के व्यापक प्रयोग के बावजूद हम इस पर क़ाबू नहीं पा सके हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि लोगों ने इन उपायों का ठीक-से पालन नहीं किया, लेकिन तब अगर ये उपाय कारगर हो सकते थे तो इन उपायों में लोगों के इस आत्मघाती मनोविज्ञान की पूर्वापेक्षा का अभाव क्या इन उपायों की और इनके पीछे कार्यरत हमारे ज्ञान की सीमा को नहीं दर्शाता?

कोरोना के रूप में आया संकट जिन अन्यान्य अर्थों में अभूतपूर्व है उनमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि इसके साथ मनुष्य का सामना, पिछले लगभग सौ वर्ष बाद, किसी मानवीय या अतिमानवीय नहीं, बल्कि एक अ-मानवीय, या अ-जैविक अन्य (अदर) से हो रहा है (दूसरा विश्वयुद्ध, या हमारे अपने देश का विभाजन, जो इससे भी भीषण और जान के साथ-साथ माल की भी तबाही के कारण बने थे, उनमें एक-दूसरे के सामने 'अन्य' के रूप में मनुष्य ही थे)।

लेकिन, भले ही इस समय सारे उपायों के बावजूद संक्रमण की विश्वव्यापी शृंखला टूटती दिखाई नहीं दे रही है, विज्ञान की कामयाबी के अतीत को देखते हुए हमें यह उम्मीद करनी चाहिए कि वह अंततः (हालाँकि न जाने कितनी बड़ी क्षति के बाद) इस संकट पर विजय प्राप्त कर लेगा; वह इस वायरस का टीका विकसित कर लेगा। हरारी ने संकेत किया है, विज्ञान का सारा विकास अज्ञान के स्वीकार पर निर्भर रहा है, इसलिए इस बार भी उसकी सफलता निश्चय ही ऐसे ही स्वीकार का सुफल

होगी। लेकिन इस बार शायद इस स्वीकार को अधिक मूलगामी (रैडिकल) होना होगा : उसमें अननुमेयता और अप्रत्याशितता के अक्षय अज्ञान के स्वीकार को शामिल करना अनिवार्य होगा। दूसरे शब्दों में, सिर्फ़ इतना स्वीकार करना भर पर्याप्त नहीं होगा कि हम नहीं जानते थे, बल्कि यह भी स्वीकार करना होगा कि हमारे सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के दायरे में ऐसा बहुत कुछ है जिसका अनुमान या प्रत्याशा सम्भव नहीं है। हमारे ज्ञान के दरवाज़े पर कभी भी किसी ऐसे अ-निवार्य आगंतुक की दस्तक हो सकती है जिसकी उम्मीद या कल्पना उसने नहीं की थी। यह स्वीकार शायद हमारी ज्ञानात्मक काया के संदर्भ में, एक तरह से, ऐसे टीके की भूमिका निभा सकता है जो इस काया को अननुमेय और अप्रत्याशित के प्रति अनुकूलित कर सके। जिस प्रकृति पर विजय से हम अपना बुद्धिमान मानव (*होमो सेपियंस*) होना परिभाषित करते आये हैं उस प्रकृति (की अननुमेयता से) से हमें अपनी बुद्धि का टीकाकरण भी करना होगा।

हम अभी तक इस वायरस के उद्गम की वास्तविक वजह नहीं जानते। अफ़वाहों में व्याप्त कांसपिरेसी थियरियों को छोड़ दें, और अगर यह मान भी लें कि कोरोना किसी इंसानी कीमियागरी का वांछित-अवांछित नतीजा नहीं है, तब भी प्रकृति को जीतने और जोतने की, उसको और उसके साथ अविनाभाव जुड़े जीव और वनस्पति-जगत को विस्थापित कर, उसको (जिसमें *होमो* प्रजाति के अन्य मानव भी शामिल रहे हैं) विलुप्ति के अथाह, अँधेरे गर्त में धकेल कर, अपने साम्राज्य का विस्तार करने की जो परियोजनाएँ हम चला(ते) रहे हैं वह स्वयं भी एक तरह की कीमियागरी ही है, भले ही भाषा पर अपने एकाधिकार का इस्तेमाल करते हुए हमने उसे विकास जैसे विभिन्न गरिमामय नाम क्यों न दे रखे हों। ऐसे में इस सम्भावना को निरी सनक मानकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि मुमकिन है यह वायरस हमारी इस कीमियागरी या विकास का ही एक सह-उत्पाद (बाइप्रॉडक्ट) हो। एक वैज्ञानिक शोध के आकलन के मुताबिक़ इस वायरस के उत्परिवर्तन (म्यूटेशंस) प्राकृतिक चयन (नेचुरल सिलेक्शन) का परिणाम हैं। लेकिन प्राकृतिक चयन स्वयं जिस विकास-प्रक्रिया का अंग होते हैं वह प्राकृतिक संबंधों में आये या लाए गये बदलावों से निरपेक्ष नहीं होती।

जिस अननुमेयता और अप्रत्याशितता की हम बात कर रहे हैं उसने इसलिए दुनिया को अभूतपूर्व रूप से सकते में ला दिया है, क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया, हम पिछले सौ साल के अनुभव के आधार पर इस आश्वस्ति के साथ जीना शुरू कर चुके थे कि महामारी का युग बीत चुका है। भावी संकटों से बेख़बर न होते हुए भी हम उनकी अननुमेयता और अप्रत्याशितता से निश्िंचत हो चुके थे। मनुष्य का सामूहिक विनाश तो दूर-दूर तक हमारी चिंता का विषय नहीं ही रह गया था, उलटे हम उसकी आयु को दुगुना-तिगुना करने, या मुमकिन हो सके तो उसे अमर बना देने की विलासिता की दिशा में सोच रहे थे। मनुष्य की गति, क्षमता, अभिगम्यता आदि को चरम सीमा तक ले जाना हमारी प्राथमिकता बन चुके थे। हम विश्वग्राम बन चुके थे और अब पृथ्वी से इतर ग्रहों पर अपने उपनिवेश स्थापित करने की दिशा में सोच रहे थे। हम हिंदू राष्ट्र और राम मंदिर बनाने, दुनिया को इस्लामिक स्टेट में बदलने, छोटे-छोटे नगरों तक में मैट्रो का जाल बिछाने, ध्वनि की रफ़्तार से भागने वाली ट्रेनें और स्मार्ट सिटीज़ बनाने के कामों में व्यस्त थे। इन सबके बीच कोरोना जैसी किसी चीज़ की कल्पना भी हास्य का, या, अपने सर्वोत्तम कलात्मक क्षणों में, ज़्यादा-से-ज़्यादा घण्टे-दो-घण्टे के मनोरंजन का विषय ही हो सकती थी।

लेकिन अब यह एक यथार्थ है : एक ऐसा यथार्थ जो मनुष्यता की कोशिकाओं में अपने-अपने आँकड़ों को धँसा कर, उनको भेद कर, उसमें अपनी बस्तियाँ बसा लेने का ख़तरा पैदा कर रहा है; एक ऐसा यथार्थ जिसकी संक्रामकता और सांघातिकता के दायरे में सिर्फ़ इंसान का शरीर और उसका वर्तमान ही नहीं है, बल्कि उससे ज़्यादा उसका मानस और भविष्य भी है। विज्ञान हमें हमारी जैविक (बायलॉजिकल) उत्तरजीविता और आरोग्य को लेकर आश्वस्त कर सकता है, उसे इस वायरस से

अनुकूलित कर सकता है (आमीन!), लेकिन हमारा मानस लम्बे समय तक इससे वध्य बना रहेगा।

यह विडम्बना भी ध्यान देने योग्य है कि जिस सोशल डिस्टेंसिंग नामक पद की इस समय सारी दुनिया में सबसे ज़्यादा गूँज सुनाई पड़ रही है, जिसको एकमात्र श्रेष्ठ क्रिया (हालाँकि वह, वस्तुतः, क्रिया नहीं, अ-क्रिया है) मानकर, उसका प्रबलतम आग्रह करने को हम विवश हैं, वह आग्रह एक ऐसे समय में किया जा रहा है जब सारी दुनिया के एक विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज) में बदल जाने का, दूरियों के सिमट जाने का, सोशल कनेक्टिविटी का जश्न मनाया जा रहा था। इस अर्थ में कोरोना को, शायद एक उत्तर-उत्तरआधुनिक संघटना कहा जा सकता है। वह समय की एक ऐसी नयी अवधारणा बन जाने की सम्भावना समाहित किये प्रतीत होता है जिसका उपयोग शायद भविष्य में समय को परिभाषित करने वाले एक उपसर्ग के रूप में करना पड़े।

सोशल डिस्टेंसिंग नामक यह अवधारणा भी विचारणीय है। दरअसल जो चीज़ ज़रूरी है, और जिसका सामान्य तौर पर प्रयोग किया जाता रहा है, किया जा रहा है (भले ही उसका आत्मघाती उल्लंघन भी व्यापक तौर पर होता रहा है), वह शारीरिक दूरी (फ़िज़िकल डिस्टेंसिंग) है, जैसा कि इस बीच विभिन्न लोगों ने ध्यान दिलाया है। सोशल डिस्टेंसिंग की अवधारणा अपने अंदर जिस अर्थ को छिपाए हुए है उसके तहत उसका मतलब होगा : विभिन्न जातीय, साम्प्रदायिक, धार्मिक, भाषाई, स्थानीय आदि समूहों के बीच दूरी। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह मसला महज़ ग़लत शब्द या ग़लत अनुवाद के चुनाव का है, या यह एक सुविचारित चुनाव है जिसके पीछे कोई ख़ास मंशा काम कर रही है। यह अवधारणा जिस भयावहता के गर्भ से जन्मी है, वह इसे, इसके विविध राजनीतिक-सामाजिक संस्करणों के साथ, अगर हमारे उत्तर-कोरोना मनोविज्ञान का स्थायी भाव बना दे, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। और अगर इस मनोविज्ञान का दुरुपयोग जातीय, नस्लीय, राष्ट्रीय शुद्धताओं के अहंकारपूर्ण दावों और इन शुद्धताओं की रक्षा के नाम पर दुनिया के कुछ हिस्सों में की जा रही क़िलेबंदियों की कोशिशों (यथा अमेरिका की आव्रजन नीति, या ब्रेक्ज़िट, या सीएए, एनआरसी, एनआरपी आदि) को वैध ठहराने के लिए किया जाए, तो यह भी आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। क्योंकि, कोरोना भले ही, जैसा कि हमने शुरू में कहा है, एक अ-मानवीय, या अ-जैविक 'अन्य' है, लेकिन यह स्वयं को व्यक्त उस मनुष्य के रूप में ही करता है जो इससे आविष्ट या संदूषित होता है। दूसरे शब्दों में यह मनुष्यों को एक-दूसरे के संदर्भ में दूषित अन्यों में रूपांतरित करता है। इस अर्थ में यह महामारी दूषित या संदिग्ध-रूप-से-दूषित अन्य का सामूहिक उत्पादन (मास प्रॉडक्शन) कर रही प्रतीत होती है। इस अन्यता में निहित सांघातिकता की सम्भावना अन्य-जन-भीति (ज़ेनोफ़ोबिया— जो किसी संक्रामक वायरस से कम नहीं है) को हमारे सामान्य मनोविज्ञान का हिस्सा बना दे सकती है। और एक ऐसे समय में जब यह अन्य-भीति अनेक शक्तिशाली सत्ताओं की अंतर्देशीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीति की प्रेरक बनी हुई है, इस कोरोना-उत्पादित विराट अन्य को, अन्य-भीति के उसके वध्य सामान्य मनोविज्ञान के साथ, बहुत आसानी से, अन्य-व्यक्ति से अन्य-समुदाय, अन्य-सम्प्रदाय, अन्य-नस्ल में रूपांतरित कर लिया जा सकता है, और सोशल डिस्टेंसिंग के उपाय को सामुदायिक, साम्प्रदायिक, नस्लीय, राष्ट्रीय डिस्टेंसिंग की शक्ल दी जा सकती है। अपनी इस नयी शक्ल में इस डिस्टेंसिंग का अर्थ, ज़ाहिर है, एक-दो मीटर की दूरी बनाए रखने तक सीमित नहीं होगा, बल्कि दूषितों को थोक के भाव ज़िबह कर देना होगा। (सोशल डिस्टेंसिंग की अवधारणा अत्यंत प्राचीन और महामारियों से ही जुड़ी हुई है, जैसा कि मिशेल फ़ूको ने विलक्षण अनुसंधानपूर्वक दर्शाया है, जिसके तहत, मसलन कोढ़ियों को बड़ी संख्या में जहाज़ में लादकर समुद्र में फेंक दिया जाता था, और जब किसी समुदाय का उन्मूलन करना होता था, तो उसे किसी महामारी का वाहक बता कर ही वैसा किया जाता था। फ़ूको यह भी संकेत करते हैं कि जिसे हम क्लीनिक कहते हैं, वह भी महामारी के गर्भ से जन्मी सोशल डिस्टेंसिंग का संस्थानीकृत रूप है। हिटलर भी

यहूदियों को संक्रामक रोगाणुओं के स्थायी वाहकों के रूप में देखता था।) यह निरी सम्भावना नहीं है, हमारे देश में (जहाँ जाति-व्यवस्था और साम्प्रदायिकता ने हमें सोशल डिस्टेंसिंग की सार्थकता का पहले ही अभ्यस्त बना रखा है) यह सिलसिला शुरू हो चुका है : एक सम्प्रदाय-विशेष की जमात की नितांत मूर्खतापूर्ण, अंधविश्वास से भरी लापरवाही ने कोरोना के दूषण के प्रसार में ख़तरनाक स्तर का योगदान कर उन लोगों को इस समूचे सम्प्रदाय के ख़िलाफ़ खुलकर आरोप के घेरे में लेने का औचित्य उपलब्ध करा दिया है जो उसके ख़िलाफ़ पहले से घात लगाए बैठे थे। यह साम्प्रदायिक मनोविज्ञान भविष्य में कितना ख़तरनाक रूप ले सकता है (और इस पर आधारित होकर पहले से ही फल-फूल रही सत्ता की राजनीति किस क़दर दीर्घजीवी हो सकती है) इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि त्रासदी की इस भीषण अवस्था के बीच ही इस अल्पसंख्यक सम्प्रदाय-विशेष की सेवाओं के बहिष्कार का सिलसिला शुरू हो चुका है।

इस महामारी के इर्द-गिर्द जो वक्तृता (रेटॉरिक) और छवियाँ विकसित हो रही हैं, वे भी ध्यान देने योग्य हैं। कोरोना (जो प्रकृति के अनंत अ-जैविक अणुओं में से एक उदासीन, निर्दोष अणु-मात्र है) पर शत्रु और दानव जैसी संज्ञाओं और विशेषणों का आरोपण कर, और इस तरह, विवक्षित अर्थ में, मनुष्य को मित्र और देवता की तरह मण्डित कर, स्वाभाविक ही उसके ख़िलाफ़ जंग या युद्ध छेड़ने और इस युद्ध में विजय प्राप्त करने का आह्वान किया जा रहा है (और, मानो, इस युद्ध को उद्दीपक पृष्ठभूमि प्रदान करने, सरकारी, सरकार के पक्षधर टेलिविज़न पर दानवों पर देवों की विजय के लिए युद्ध की अपरिहार्यता और औचित्य साबित करने वाले पुराने धारावाहिकों को प्रसारित किया जाता रहा है)। इसी तरह, यद्यपि कहा भले ही यह जा रहा हो कि तालियाँ, थालियाँ और घण्टियाँ बजाकर (जिनके साथ जहाँ-तहाँ शंखनाद भी किया गया), और अँधेरा फैलाकर दिये/मोमबत्तियाँ जलाकर हम दूसरों का और अपना मनोबल बढ़ा रहे हैं, लेकिन कोई भी थोड़ा-सा पारम्परिक दिमाग़ इन छवियों में निहित अशुभ शक्तियों के ख़िलाफ़ की जाने वाली ओझागिरी के साथ आसानी से और उत्साहपूर्वक तादात्म्य स्थापित कर सकता है। कुल मिला कर, पोस्ट-ट्रुथ राजनीति के हथकण्डों के रूप में इस्तेमाल की जा रही यह पूरी शब्दावली और दृश्यावली जो मनोवैज्ञानिक बीज बो रही है उसका सुनिश्चित फल एक ही है : आने वाले समय में इसे कोराना की भूमि पर उगी नयी अन्यता और विविध क़िस्म की ज़ेनोफ़ोबिक डिस्टेंसिंग की फ़सल के रूप में काटना।

इस शब्दावली-दृश्यावली को प्रजनित, प्रसारित करने और हमारी भाषा में उसकी बस्तियाँ बसाने में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सबसे

> सोशल डिस्टेंसिंग ... विभिन्न जातीय, साम्प्रदायिक, धार्मिक, भाषाई, स्थानीय आदि समूहों के बीच दूरी। ... कहना मुश्किल है कि यह मसला महज़ ग़लत शब्द या ग़लत अनुवाद के चुनाव का है, या यह एक सुविचारित चुनाव है जिसके पीछे कोई ख़ास मंशा काम कर रही है। यह अवधारणा जिस भयावहता के गर्भ से जन्मी है, वह इसे, इसके विविध राजनीतिक-सामाजिक संस्करणों के साथ, अगर हमारे उत्तर-कोरोना मनोविज्ञान का स्थायी भाव बना दे, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। ... कोरोना भले ही ... एक अ-मानवीय, या अ-जैविक अन्य है, लेकिन यह स्वयं को व्यक्त उस मनुष्य के रूप में ही करता है जो इससे आविष्ट या संदूषित होता है। दूसरे शब्दों में यह मनुष्यों को एक-दूसरे के संदर्भ में दूषित अन्यों में रूपांतरित करता है। इस अर्थ में यह महामारी दूषित या संदिग्ध-रूप-से-दूषित 'अन्य' का सामूहिक उत्पादन कर रही प्रतीत होती है।

अधिक सक्रिय रहा है। पता नहीं, जब सरकार लॉकडाउन के दौरान आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति बनाए रखने के सिलसिले में दवाइयों, किराना, सब्ज़ियों आदि की जिन दूकानों के खुले रहने का आश्वासन देती है, तो उनमें मीडिया का नाम शामिल क्यों नहीं किया जाता। जबकि अहर्निश खुली रहने वाली सबसे बड़ी दूकानें यही हैं (जो सम्भवत: उस एकमात्र उद्योग का अंग हैं जो कोरोना-महामारी के नतीजे में सम्भावित विराट आर्थिक मंदी से न केवल शायद अप्रभावित बना रहेगा बल्कि कुछ ज़्यादा ही मुनाफ़ा कमाएगा)। ये दूकानें सिर्फ़ पुष्ट, प्रामाणिक सूचना नहीं बेचतीं (जिसे इन दूकानों को दिन में सिर्फ़ दो-तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर खोल कर बेचा जा सकता है), बल्कि वे ज़्यादातर अनावश्यक और दहशत तथा अवसाद उपजाने वाली जानकारी को उच्च तकनीकी दृश्य-संयोजनों (मोंताज़) और ध्वनि-प्रभावों से सज्जित कर, उसे मनोरंजक बना कर, निरंतर हमारे दिमाग़ों में ठूँसती रहती हैं, और इनकी ओट में ज़्यादातर मध्यवर्गीय कमॉडिटी का अलंकृत प्रचार करती रहती हैं। यह भी एक महामारी है— सूचना और कमॉडिटी की महामारी, जो भले ही, जैविक अर्थ में, लोगों की जान नहीं लेती, लेकिन जिसका वायरस हमारी मानसिक कोशिकाओं का निरंतर क्षरण करता हुआ उसकी प्रतिरोधक क्षमता को ख़त्म करता रहता है। इस महामारी ने उन मानसिक स्पेसों को लगभग नष्ट कर दिया है जहाँ ठहर कर विचार, विमर्श और प्रतिरोध के रूपाकार गढ़े जा सकें, जहाँ दिमाग़ी मौतों या सदमों के आँकड़ों को दर्ज किया जा सके, उनका विश्लेषण किया जा सके। इसी के साथ-साथ, सत्ता और पूँजी के आपसी लेन-देन पर खड़ा यह मीडिया-उद्योग एक और काम करता है (और इस संकट की आड़ में सबसे ज़्यादा कर रहा है) : सत्ता और उसके शीर्ष पर बैठे लोगों का छवि-निर्माण और उन दिमाग़ों में उनका अंकन जिनकी प्रतिरोधक क्षमता को वह पहले ही हर चुका होता है। (इस बीच यह मीडिया लगभग अभियान के स्तर पर एक काम और कर रहा है : इस महामारी के संदर्भ में ग़ैर-भाजपा-शासित राज्यों (जैसे कि महाराष्ट्र और दिल्ली, जहाँ संयोग से महामारी का प्रकोप भी काफ़ी सघन है) को परोक्षत: अक्षम साबित करने, और वहाँ की सरकारों को अस्थिर बनाने की केंद्र सरकार की मंशा के पक्ष में जनमानस तैयार करने की कोशिश)। लगभग 99 प्रतिशत मीडिया में शासकों, पूँजीपतियों और विशेषज्ञों को सवालों के कटघरे में खड़ा करने, उनके फ़ैसलों को चुनौती देने, उत्तरदायित्व से उनके पलायन को रेखांकित करने आदि की इच्छा तो दूर-दूर तक नहीं ही है, क़ाबिलियत भी शायद नहीं है।

बहरहाल, हम अपने जीवन में पहली बार एक अनिश्चितकालीन प्रतीत होते (और दुर्भाग्यवश अनिवार्य) लॉकडाउन में, अपने घरों, और शहरों आदि में बंद रहे हैं। जो लोग सार्वजनिक स्पेसों में या दफ़्तरों, सिनेमाघरों, बाज़ारों, होटलों, मालों आदि में कर्मशीलता की अपनी दिनचर्या के अभ्यस्त हैं, उनके लिए यह एकांत शायद दमघोंटू (क्लास्ट्रोफ़ोबिक) लगता रहा हो। लेकिन इसी दौरान इस देश के करोड़ों लोग ऐसे भी रहे हैं जिन्हें यह दुर्भाग्यपूर्ण एकांत भी नसीब नहीं हुआ। ये थे वे बेघर, बेरोज़गार मज़दूर जो पहले तो अपने घरों से सैकड़ों-हज़ारों मील दूर शरणार्थी-शिविरों या अस्थायी चिकित्सालयों में अलग-थलग रह रहे थे, और फिर जिन्हें अंतत: उनकी बेरोज़गारी, भूख, और सिर पर छप्पर के अभाव ने खदेड़ कर सड़कों पर फेंक दिया। यातायात के साधनों के अभाव, या उनके अचानक उपलब्ध होने की अमानवीय अफ़वाहों की वजह से देश भर में जगह-जगह अफ़रातफ़री और भागमभाग का भयावह रूप से दर्दनाक दृश्य उपस्थित हुआ। लाखों की संख्या में लोग अपने असबाब और शिशुओं तथा छोटे बच्चों को लादे, भूख और प्यास और बीमारियों को सहते हुए, पैदल या साइकिलों पर अपने घरों की ओर सैकड़ों-हज़ारों मील के सफ़र पर चल पड़े, जिस दौरान उनमें से कइयों को तरह-तरह की दुर्घटनाओं में अपनी जानें भी गँवानी पड़ीं। अरसे बाद जब सरकारों को होश में लाया गया और उन्होंने तरह-तरह के राजनीतिक दलदल से गुज़रते यातायात के कुछ साधन उपलब्ध कराए, तो बचे रह गये लाखों मज़दूरों को इन वाहनों में लगभग उसी तरह ठुँसना पड़ा जैसे युरोप में

नाज़ी हुकूमत के दौरान यहूदियों को रेल के डिब्बों में माल की तरह ठूँस कर यातना-शिविरों में भेजा जाता था। इस दौरान राजकीय अव्यवस्था का यह आलम था कि अनेक ट्रेनों ने अपनी दिशाएँ बदल दीं, और वे अपने गंतव्य से सैंकड़ों मील दूर कहीं और जा पहुँची, या यात्रा के दौरान दर्जनों पड़ावों पर कई-कई घण्टों तक खड़ी रहीं और भूख से तड़पते मज़दूरों को प्लेटफ़ॉर्मों पर लूट-पाट और तोड़-फोड़ के लिए और नतीजतन पुलिस के डण्डे सहने के लिए विवश होना पड़ा। हिंदुस्तान के इतिहास के इस अभूतपूर्व, विराट, बलात् सामूहिक पलायन के दौरान, मीडिया की शब्दावली में, सोशल डिस्टेंसिंग की धज्जियाँ उड़ती रहीं। इसका कोई हिसाब नहीं है कि इस प्रक्रिया में कितने मज़दूर संक्रमित हुए होंगे और कितनों को उन्होंने संक्रमित किया होगा। यह पलायन कोरोना से सम्भावित मौत और भूख से अवश्यम्भावी मौत के बीच, पहली तरह की मौत की क़ीमत पर दूसरी तरह की मौत से बचने का चुनाव था— उस चिरकालीन महामारी (बेरोज़गारी और भुखमरी) से बचने का चुनाव, जिससे भागकर वे वर्षों पहले अपने गाँवों, क़स्बों, घरों, परिवारों को छोड़कर, अपनी मातृभूमि और मातृभाषा को छोड़कर, नगरों और महानगरों के इन परदेसों में आकर बस गये थे।

> इस सम्भावना को निरी सनक मानकर ख़ारिज़ नहीं किया जा सकता कि मुमकिन है यह वायरस हमारी इस कीमियागरी या विकास का ही एक सह-उत्पाद हो। एक वैज्ञानिक शोध के आकलन के मुताबिक़ इस वायरस के उत्परिवर्तन प्राकृतिक चयन का परिणाम हैं। लेकिन प्राकृतिक चयन स्वयं जिस विकास-प्रक्रिया का अंग होते हैं वह प्राकृतिक संबंधों में आये या लाए गये बदलावों से निरपेक्ष नहीं होती।

ध्यान देने की बात है कि जब यह सब कुछ घटित हो रहा था, तब हिंदुस्तान के प्रधानमंत्री देश के टेलिविज़न चैनलों से, मानो इस विराट सामूहिक पलायन के आरपार देखते हुए, अपने प्रवचन में आपदा को अवसर में बदलते हुए आत्मनिर्भर भारत का गुणगान और आह्वान कर रहे थे। या, शायद मैं ग़लत कह रहा हूँ : प्रधानमंत्री उस पलायन के आरपार देखते हुए नहीं, बल्कि शायद उसे लक्ष्य करते हुए या उसको सम्बोधित करते हुए ही आत्मनिर्भरता का यह गुणगान और आह्वान कर रहे थे।

बहरहाल, अब स्थिति यह है कि ये करोड़ों मज़दूर एकबार फिर अपने घरों को अंततः लगभग लौट तो चुके हैं, लेकिन वहाँ भी हमारी सरकार, सरकारों और सामाजिक-राजनीतिक तंत्र के पास ऐसा कुछ भी नहीं है जो उनकी उत्तरजीविता को आश्वस्त कर सके। उनके पास अभी भी वही एकमात्र विकल्प है कि वे इस महामारी के बीतने का जैसे-तैसे इंतज़ार करें, और अंततः फिर से उसी कूचे में लौटें जहाँ से उन्हें बुरी तरह बेआबरू होकर निकलना पड़ा है। नगरों-महानगरों के औद्योगिक और व्यावसायिक तंत्र के लिए तो उनकी ज़रूरत होगी ही, स्वयं वे भी इस तंत्र पर बुरी तरह निर्भर बनाए जा चुके हैं।

लेकिन क्या उनकी वापसी सहज होगी? नगरों-महानगरों ने और इन्हें आबाद किये हृदयहीन मध्यवर्ग ने इस विपत्ति की घड़ी में उनके साथ जिस तरह का व्यवहार किया है, उसके सांघातिक अनुभव के बाद क्या इस दुनिया पर उनका विश्वास वापस लौट सकेगा? और, जाति, मज़हब, स्थानीयता आदि के सुदीर्घ राजनैतिक कुचक्रों ने उनके मानस की जिस तरह की रचना कर रखी है, उसे देखते हुए यह तो निरा दिवास्वप्न ही होगा कि उनके बीच से कोई ऐसा महाशक्तिशाली नेतृत्व उभर सके जो उनके साथ हुए इस विश्वासघात और अपमान को संघटित कर उसे किसी परिवर्तनकारी विद्रोह का रूप दे सके। उल्टे, भय इस बात का है कि झूठ और फ़रेब की हमारी राजनीतिक यंत्रावली आने वाले चार वर्षों के दौरान आपदा को अवसर में बदलने की अपनी महत्त्वाकांक्षी परियोजना के तहत इन करोड़ों लोगों के मन में इस विश्वासघात और अपमान की इस क़दर विस्मृति पैदा कर दे

कि अगले आम चुनाव में ये लोग उसी राजनीतिक नेतृत्व के पक्ष में मतदान करें जो उनके साथ हुए इस अन्याय में प्रमुख रूप से सहभागी रहा है। हमारे लोकतंत्र की यह विडम्बना भी क्या हमारे उस अज्ञान का हिस्सा नहीं है, जिसका ज़िक्र मैंने शुरू में किया है?

यह बात तो निश्चय हमारे सामान्य ज्ञान का हिस्सा है कि हमने विकास, आजीविका, और रोज़गार का जो मॉडल तैयार किया वह गाँवों और क़स्बों की बजाय बड़े शहरों और महानगरों में केंद्रित है, और यह भी कि इसी के नतीजे में करोड़ों लोगों को अपने गाँवों और क़स्बों से उन्मूलित हो कर शहरों और महानगरों में बसना पड़ा है (और यह उन्मूलन, ज़ाहिर है, निरा भौतिक या कायिक नहीं, बल्कि उससे अधिक वह पारिस्थितिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है)। साथ ही उन्मूलन की यह प्रक्रिया आकस्मिक ढंग से महीने-पंद्रह दिन में नहीं, बल्कि वर्षों के अंतराल में धीरे-धीरे घटित होती रही है। लेकिन, मुख्यतः नगरों और महानगरों में, और सबसे ज़्यादा इनके सघन आबादी वाले हिस्सों में फैली इस महामारी ने, अपने लगभग समकक्ष सह-उत्पाद के रूप में, सर्वथा आकस्मिक और अत्यंत छोटी-सी अवधि में घटित जिस विपरीत विस्थापन (रिवर्स माइग्रेशन) को जन्म दिया है, उसकी सम्भावना क्या इस महामारी के पहले तक हमारे सामान्य अज्ञान का हिस्सा नहीं थी? और क्या इस अज्ञान का स्वीकार इस स्वीकार के सारे निहितार्थों और फलितार्थों के साथ भी हमारे विज्ञान के भावी सम्यक विकास के लिए अनिवार्य नहीं है?

यह लेख (जैसा कि इस महामारी पर केंद्रित कोई भी सम्भावित लेख) असमाप्य है। आज (4 अगस्त, 2020 को) हिंदुस्तान में पिछले चौबीस घण्टों में रिकॉर्ड 50,488 प्रकरण आये हैं जिनके साथ देश में कुल संक्रमितों की 18,55,000 और कुल मृतकों की संख्या 38,971 हो चुकी है, और पूरी दुनिया में यह संख्या क्रमशः 18,44,2300 और 69,7,000 संख्या हो चुकी है। लेकिन प्रश्न सिर्फ़ इन्हीं भयावह आँकड़ों का नहीं, बल्कि इनके अनुपात या विषमानुपात में सम्भावित बेरोज़गारी, उत्पादन में गिरावट, आर्थिक मंदी, और इन सबके साथ-साथ मानसिक अवसाद के आँकड़ों का भी है। इसलिए, हमारा कोई भी आकलन इस महामारी से निर्मित दुनिया के उस सामाजिक, आर्थिक, और मानसिक भविष्य के सापेक्ष बना रहेगा जो भविष्य फ़िलहाल सर्वथा अँधेरे में डूबा है और निरंतर निर्मित हो रहा है।

इस महामारी ने सिर्फ़ इंसानी काया की प्रतिरक्षा-प्रणाली को ही नहीं, बल्कि उससे अधिक हमारे समूचे ज्ञानात्मक निकाय की उस प्रतिरक्षा-प्रणाली को प्रश्नांकित किया है जो एक अननुमेय, अप्रत्याशित के समक्ष निहायत ही लाचार होकर रह गयी लगती है। इसलिए, जहाँ तक काया की प्रतिरक्षा-प्रणाली का प्रश्न है, वह निश्चय ही चिकित्सा-विज्ञान, जीवविज्ञान या जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्रों से संबंधित हो सकता है, और इन ज्ञानानुशासनों से जुड़े वैज्ञानिक निश्चय ही इस चुनौती से निपटने में जुटे होंगे। लेकिन अगर हम अपने ज्ञानात्मक निकाय की प्रतिरक्षा-प्रणाली की मौजूदा लाचारी को विचारणीय बनाना चाहते हैं, तो इस मसले को चिकित्साविज्ञान आदि के भरोसे छोड़कर निश्चिंत नहीं हो सकते। इसकी बजाय, यह मसला व्यापक और दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान-मात्र की प्रतिश्रुति और उत्तरदायित्व की माँग करता है। इसलिए शायद यह ज़रूरी है कि देश और दुनिया के शीर्षस्थ जीव-विज्ञानी, भौतिकीविद्, रसायनविद्, जैवरसायनविद्, विकासवाद के अध्येता, पर्यावरणविद आदि विभिन्न वैज्ञानिक और दार्शनिक आपस में मिल कर इस संकट की रोशनी में एक अंतर-अनुशासनात्मक विमर्श विकसित करें, विज्ञान के दर्शन और इतिहास पर पुनर्विचार करें, और व्यापक समाज तथा मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, राजनीति आदि के अध्येताओं के साथ यथासम्भव ग्राह्य भाषा में इस विचार-विमर्श में साझा करें। अगर वे ऐसा करते हैं, तो वे सचमुच इस 'आपदा को अवसर में बदल' रहे होंगे।